

समकालीन सन्दर्भ में धर्म का प्रासंगिक स्वरूप

डॉ. बुद्धदेव प्रसाद सिंह

सहायक प्राचार्य(assist.Prof.),

हिन्दी विभाग,

डी.बी. कॉलेज जयनगर,

मधुबनी (बिहार)

धर्म क्या है और उसके लक्षण क्या हैं, इसे जानने के लिए हमारे धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में बहुत उपयुक्त सामग्री निबद्ध है और इसलिए इस विषय में हमें बहुत अधिक मौलिक कल्पना की आवश्यकता नहीं होती है। हाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों की संख्या बहुत है और उसमें दी गयी परिभाषाओं एवं विवेचनों की भी। उनमें ऐसी परिभाषाएँ और विवेचन भी निबद्ध हैं जिन्हें कभी बहुत महत्वपूर्ण माना गया होगा, परन्तु समकालीन सन्दर्भों में उनमें से बहुत कुछ अतार्किक भी लगता है और काफी हद तक हास्यास्पद भी। ऐसे में आवश्यकता बस यह है कि धर्म के नाम पर प्रचलित वाह्याचारों से काफी हद तक दृष्टि हटाकर एक बार पुनः 'तर्क' और 'लोक' दोनों दृष्टियों से उपयुक्त सिद्धान्त वाक्यों को देख लिया जाए। समकालीन समाज जिस प्रकार की संक्रमणशील विचारधारा के दौर से गुजर रहा है उसमें परिभाषाओं के कान्तार में भटकना भी बहुत हद तक लाभदायक सिद्ध नहीं होता है। प्रायः परिभाषाओं में कम शब्दों का इस्तेमाल होता है और इस कारण से उसके काफी उपयुक्त होने के बावजूद लोग उनसे मनोनुकूल अर्थ निकालने लगते हैं। उदाहरण के लिए वैशेषिक दर्शन का आरम्भ भी धर्म की व्याख्या के उद्देश्य से ही हुआ है। पहला ही सूत्र है 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः'।¹ और इसके उत्तर में दूसरा सूत्र है 'यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'।² अर्थात् जिससे अलौकिक कल्याण तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है उसे धर्म कहते हैं। इन दोनों शब्दों से मनमाना अर्थ करने के लिए प्रायः लोग अधिक ही स्वतंत्र हो जाते हैं। यों भी मार्क्सवादी विचारधारा में तो मोक्ष के

लिए कोई स्थान ही नहीं है, तो उससे सम्बद्ध महान् विचारकों के लिए भी प्रचलित अर्थ में मोक्ष कोई मायने नहीं रखता; और सनातन धर्मावलंबी अथवा अन्य किसी मत के मानने वाले लोगों में मोक्ष काफी महत्त्व रखता भी है तो उसके साधन को लेकर अत्यधिक मत-भिन्नता की स्थिति देखी जाती है। ऐसे में 'धर्म' शब्द के मूल भाव की ही 'इति श्री' हो जाती है, और सांप्रदायिक भेदभाव ही प्रबल हो उठते हैं। यों भी स्वयं महर्षि कणाद मोक्ष की प्रचलित धारणा से भिन्न अर्थ लेते प्रतीत होते हैं। वैशेषिक दर्शन के चौथे सूत्र में वे स्पष्ट कहते हैं कि पदार्थों के स्वाभाविक धर्म एवं विपरीत धर्म के द्वारा तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है।³ ऐसे में समकालीन सन्दर्भ में इस प्रकार की परिभाषाओं को विशिष्ट विचारकों के लिए छोड़कर कुछ हद तक किनारा कर लेना ही उचित प्रतीत होता है।

मेरे विचार से धर्म की सर्वाधिक उपयुक्त परिभाषा यही है :-

**धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥⁴**

अर्थात् धर्म ही प्रजा को धारण करता है और धारण करने के कारण ही उसे धर्म कहते हैं। इसलिए जो धारण--प्राण-रक्षा-- से युक्त हो, वही धर्म है। यह निश्चित बात है।

इससे स्पष्ट होता है कि धर्म वस्तुतः हमारे अस्तित्व से जुड़ा हुआ है। अस्तित्व-रक्षा के लिए मूलतः जो कुछ आवश्यक है वही वस्तुतः धर्म है। यहीं से समझ और नासमझ अथवा कुसमझ की राह अलग होने लगती है। बहुत से लोग अपने अस्तित्व अथवा विकास के लिए दूसरे के अस्तित्व को मिटा डालना भी धर्म समझने लगते हैं और इसके विपरीत बहुत से लोग दूसरे के अस्तित्व के रक्षण अथवा विकास के लिए अपने अस्तित्व को मिटा देने तक के लिए तैयार रहना भी धर्म समझते हैं। ये दोनों विचार न्यूनधिक मात्रा में सभी युगों में रहे हैं, परन्तु समकालीन सन्दर्भ में इनमें से कौन सा पक्ष कितना प्रबल हो गया है, यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं रह गयी है। ऐसे में यह आवश्यक होता है कि धर्म शब्द को (या किसी पारिभाषिक शब्द को) व्यष्टि तक सीमित न रखकर समष्टिगत रूप में सोचा जाए। यदि हम जीव के व्यापक अर्थ को कुछ क्षणों के लिए छोड़ कर मानवमात्र तक

ही सीमित रहें, तब भी इतना तो आसानी से समझ सकते हैं कि मानवमात्र के अस्तित्व की रक्षा एवं उसके विकास के लिए जो कुछ आवश्यक है, वह धर्म में समाहित है। ऐसा सोचने पर बहुत सारे भ्रम स्वतः नष्ट हो जाते हैं और व्यक्तिगत विकास में यदि दृष्टि को विकसित न रखा गया तो वह कितना अनर्थकारी हो सकता है यह समझना भी कठिन नहीं रह जाता है। सभी यदि अपने ही सुख और विकास के लिए सोचे तो स्वाभाविक है कि अराजकता फैल जाएगी और उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार भी अराजकता कभी धर्म नहीं हो सकती, क्योंकि उससे सदैव एक नहीं बल्कि अनेक का अस्तित्व खतरे में पड़ता है। ऐसी ही भाव भूमि पर सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'कामायनी' में श्रद्धा मनु से कहती है:-

*“अपने में सबकुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा?
यह एकांत स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा;
औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो सब को सुखी बनाओ।”⁵*

कामायनी की इस उक्ति को महाभारत की उपर्युक्त परिभाषा से शाब्दिक भिन्नता के बावजूद उसकी बड़ी ही प्राञ्जल टीका मानी जा सकती है।

वस्तुतः ‘धर्म’ शब्द ही ‘धृ’ धातु से बना है। धृ धातु में ‘मन्’ प्रत्यय के योग से ‘धर्म’ शब्द निष्पन्न होता है, जिसकी व्युत्पत्ति ‘धियते लोकोऽनेन’ अथवा ‘धरति लोकम्’ की जाती है।⁶ तात्पर्य यह कि अर्थ में किसी प्रकार की खींचतान से दूर ‘धर्म’ शब्द मूल रूप से ही धारण करने अर्थात् अस्तित्व-रक्षा से ही सम्बद्ध है।

मीमांसा दर्शन का प्रथम सूत्र ही है ‘अथातो धर्म जिज्ञासा’⁷ और उसके उत्तर में जो दूसरा सूत्र दिया गया है उसका भाव है कि ‘प्रेरणा ही धर्म का अर्थ और लक्षण है’।⁸ शाब्दिक विस्तार में बहुत जाया जा सकता है, परन्तु सहज शब्दों में कहें तो यह स्पष्ट होता है कि मानवमात्र के सम्यक् विकास के लिए जो कुछ प्रेरित करने योग्य हो, वह धर्म है।

प्रश्न उठता है कि क्या इस धर्म का कोई विकल्प भी हो सकता है, तो यह सोचने या मानने वाले के ऊपर निर्भर करता है कि वह धर्म से क्या तात्पर्य ले रहा है। यदि कोई व्यक्ति

धर्म को वाह्याचारों में देखे अथवा कितने ही उत्तम रूप में कर्मकाण्डों में देखे, तो निश्चित रूप से धर्म का विकल्प हो सकता है। परन्तु, धर्म वस्तुतः इन दोनों में सीमित नहीं है। धर्म की स्पष्टता के लिए सबसे सहज शब्द है 'कर्तव्य कर्म'। वस्तुतः धर्म का सबसे उपयुक्त पर्यायवाची शब्द है 'कर्तव्य कर्म'। गीता में जब भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'⁹ तो वहाँ धर्म से उनका अभिप्राय स्पष्ट ही कर्तव्य कर्म है। (यह अवश्य है कि इस स्थल पर 'कर्तव्य कर्म' का तात्पर्य परमात्म-प्राप्ति के लिए अपनाये जाने वाले विभिन्न साधनों से है, जिन्हें लोग अपने लिए करणीय मानते हैं। इसलिए भगवान् कृष्ण उन सबको छोड़कर एकमात्र अपनी शरण में आने को कहते हैं। परन्तु, शाब्दिक रूप में यहाँ 'धर्म' से 'कर्तव्य कर्म' अभिप्रेत है, यह तो स्पष्ट हो ही जाता है।) वस्तुतः जो अनिवार्य रूप से किसी जीव के लिए करणीय है वही धर्म है। धर्म को अस्तित्व से अलग किया ही नहीं जा सकता है। जल का धर्म है शीतलता और अग्नि का धर्म है ज्वलनशीलता अथवा ताप। इस प्रकार धर्म तो स्वभाव है। उसका कोई विकल्प हो ही नहीं सकता है।

इसके बाद यह कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है कि धर्म का स्थान क्या है और मानव को कैसे धर्म का पालन करना चाहिए, क्योंकि ये सारी बातें यही तो बता रही हैं।

इस प्रसंग में एक बात याद आ गयी है। कुछ दिन पहले फिलहाल फैली महामारी (Covid-19) के सन्दर्भ में व्हाट्सएप पर एक संदेश प्रचलित था--

*धर्म छुट्टी पर है।
विज्ञान ड्यूटी पर है।*

इसके उत्तर में मैंने लिखा था--

इस ड्यूटी के कारण को भी विज्ञान ने ही उत्पन्न किया है। यदि धर्म को ध्यान में रखा जाता तो ऐसे घातक कारण तो कम-से-कम जरूर उत्पन्न नहीं होते -- जैविक हथियार का परिणाम।

कहने का भाव यह है कि विज्ञान को भी वस्तुतः धर्म से बाहर नहीं मानना चाहिए और यदि विज्ञान (या ऐसा कुछ भी) धर्म के अन्तर्गत रह सके तो निश्चय ही मानवमात्र के लिए कर्तव्यपथ संघर्षशील चाहे जितना भी हो परन्तु कल्याणकारी अवश्य होगा।

* शुभास्ते सन्तु पन्थानः *

* वाद-विवाद एवं संवाद :-

किसी अन्य चर्चा की अपेक्षा धर्म के स्वरूप पर चर्चा आरम्भ होते ही उसे सरसरी तौर पर सुनकर या देखकर विचारों को समग्रता में लिए बिना प्रायः लोग विवाद में कूद पड़ते हैं। वस्तुतः किसी चर्चा का कुछ सार्थक परिणाम तभी सामने आ सकता है जब उस चर्चा में प्रकट किये जाने वाले विचारों को गम्भीरता से लिया जाए। सरसरी नजर से एक बार देख लेना और कुछ भी टिप्पणी कर देने से कोई सार्थक परिणाम सामने आ ही नहीं सकता है। मैं यह नहीं कहना चाह रहा हूँ कि वाद-विवाद नहीं होना चाहिए। वाद-विवाद अवश्य होना चाहिए, परन्तु कोई वाद-विवाद तभी सार्थक होता है जब उसका लक्ष्य 'संवाद' हो। केवल विवाद के लिए कोई वाद रखना अंततः निरर्थक ही होगा, यह निश्चित है। इसलिए यदि कोई विचार रखा जाता है और उससे कोई असहमत हों तो उसे खंडित करने से पहले उसे ठीक से देख या सुन अवश्य लेना चाहिए। आत्मविश्वास भी अवश्य होना चाहिए परन्तु इतना नहीं कि कही गयी बातों को ठीक से समझे बिना ही अपने निर्णय का झंडा लहरा दें। पता नहीं इतना आत्मविश्वास लोग कहाँ से ले आते हैं कि सबके विचार को सिरे से खारिज कर डालते हैं। किसी बात से असहमत होने पर स्पष्टीकरण माँगना चाहिए अथवा तार्किक ढंग से उसका खंडन करके अपने विचार रखने चाहिए। यदि आप किसी परिभाषा अथवा विवेचन से सहमत नहीं हैं तो निश्चित रूप से आप उसका खंडन कीजिए, परन्तु साथ ही आपको यह भी बताना चाहिए कि आपके विचार से सही बात क्या है; अन्यथा निष्कर्ष दिग्भ्रमित ही रहेगा।

जब किसी विवेचन के क्रम में कोई वाक्य आये तो उसका बिल्कुल स्वतंत्र अर्थ न लेकर विवेचन के क्रम में ही अर्थ लेना चाहिए। कई लोग कहते हैं कि स्वभाव धर्म हो ही नहीं सकता। 'धर्म स्वभाव है' कहने का मतलब यह नहीं है कि जिसका जो स्वभाव है वही धर्म

है। ऐसे में तो चोर कहेगा कि मेरा स्वभाव ही चोरी करना है तो वही उसका धर्म हो जाएगा। हिंसक का हिंसा करना ही धर्म मानना होगा। निःसंदेह इस अर्थ में 'स्वभाव' धर्म नहीं होता। उपर्युक्त विवेचन में जहाँ धर्म को स्वभाव कहा गया है उसके ऊपर विस्तार से धर्म क्या है और उसके निर्णय के लिए किस प्रकार सोचना चाहिए, इस पर विस्तार से कहा गया है। कामायनी का उद्धरण देकर समझाया गया है। इसके बाद वह वाक्य आया है। तात्पर्य है कि धर्म को समझ लेने के बाद किसी व्यक्ति को यह बोध होगा कि वह तो उसका स्वभाव होना चाहिए; उसका कोई विकल्प नहीं हो सकता है। हाँ उसका निर्धारण कैसे करना चाहिए इसका भी स्पष्ट संकेत दिया गया है। अस्तित्व-रक्षा का तात्पर्य केवल किसी तरह से अस्तित्व बचा लेना ही नहीं होता, उसके साथ सम्यक् विकास भी जुड़ा होता है। अतः मानवमात्र के अस्तित्व की रक्षा के साथ-साथ उसका सम्यक् विकास ही वह कसौटी है जिसके सहारे धर्म का निर्णय हो सकता है। जैन धर्म के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में भी 'धर्मानुप्रेक्षा' अध्याय के अन्तर्गत काफी विस्तार से धर्म के अनेक पहलुओं पर विचार के पश्चात् 'द्वादश तप' के अन्तर्गत धर्म की परिभाषा-स्वरूप कहा गया है :-

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।

रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो।¹⁰

अर्थात् वस्तु का स्वभाव धर्म है। (जैसे कि जीव का स्वभाव -- दर्शन- ज्ञान स्वरूप चैतन्यता धर्म है।) दस प्रकार के क्षमा आदि भाव धर्म हैं। रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र) धर्म है और जीवों की रक्षा करना भी धर्म है। इस संदर्भ में भी प्रायः लोग इस पूरी गाथा (श्लोक) को न लेकर केवल आरंभिक अंश 'धम्मो वत्थुसहावो' उद्धृत कर डालते हैं, तब भी 'वस्तु के स्वभाव' का प्रायः पूर्वोक्त भ्रामक अर्थ ही लगने लगता है।

धर्म निश्चित रूप से कोई कपड़ा नापने का गज अथवा गल्ला तोलने का बाट नहीं है जिसके द्वारा आसानी से यह घोषित कर दिया जाए कि यह धर्म है और यह धर्म नहीं है। यह प्रश्न प्रायः उठाया जाता है कि अनेक विशेष परिस्थितियों में धर्म अधर्म और अधर्म धर्म लगने लगता है। वस्तुतः वह स्थिति भी इसलिए आती है कि धर्म के लक्षणों अथवा उपलक्षणों को ही धर्म की परिभाषा मान ली जाती है। बहुत से लोग कहते हैं कि

सत्य, प्रेम और करुणा ही धर्म हैं, क्योंकि इनके बिना धर्म के कोई मायने नहीं रह जाते हैं। इस सन्दर्भ में मैं कहना चाहूँगा कि जहाँ धर्म होगा वहाँ निस्संदेह सत्य, प्रेम और करुणा की भी स्थिति होगी ही और अनिवार्य रूप से होनी भी चाहिए, परंतु सत्य, प्रेम और करुणा तक धर्म को कभी सीमित नहीं किया जा सकता है। अनेक परिस्थितियों में जो सत्य नहीं लगता, जहाँ प्रेम नहीं दिखता अथवा जहाँ करुणा के बदले अत्यन्त कठोरता अपनाती पड़ती है, वस्तुतः उसमें भी सत्य, प्रेम और करुणा की ही व्यापक अन्तर्धारा बहती रहती है। जब अनेक को कष्ट पहुँचाने वाले किसी आततायी को दण्ड दिया जाता है तो उस समय उसके लिए अपनाया जाने वाला कठोरता का भाव भी वस्तुतः व्यापक रूप से करुणा का ही प्रतिरूप होता है। इसलिए हमेशा उद्देश्य देखना चाहिए कि जो कुछ किया जा रहा है उससे मानवता का विकास सम्यक् पथ पर अग्रसर होता है अथवा बाधित होता है।

कर्ण वाली कहानी बहुत सारे लोग दुहराते हैं परन्तु वहाँ भी धर्म-अधर्म में इसलिए मतभेद उत्पन्न होता है कि कुछ लक्षणों को धर्म मानने की भूल की जाती है। धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में कोई बात कही गयी है इसलिए ऐसा मान लिया जाए, ऐसा मैं बिल्कुल नहीं कह रहा हूँ। महर्षि व्यास ने स्पष्ट नहीं भी कहा होता कि आपात् स्थितियों में अधर्म प्रतीत होने वाला भी धर्म होता है,¹¹ तब भी महाभारत की रचना ही इसीलिए हुई है कि मनुष्य समझ सके कि जीवन में ऐसे बहुत सारे क्षण आते हैं जब यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि ऐसे में धर्म क्या है और अधर्म क्या है। यही समझने और क्रियारूप में लाने के कारण कृष्ण भगवान कहलाए और कुछ हद तक इस सबको समझते हुए भी क्रियारूप में न ला पाने के कारण, बस सोचते रह जाने के कारण सारे बल, ज्ञान और विशाल अनुभव के बावजूद भीष्म भगवान नहीं कहला पाये।

कहानियों का सहारा लेना खतरे से खाली नहीं होता, क्योंकि उसमें से अर्थ के अलग-अलग आयाम निकाले जा सकते हैं। फिर भी आसानी से समझाने के लिए प्रायः कहानी का सहारा लिया ही जाता है। इस सावधानी को ध्यान में रखते हुए प्रसंगवश कुछ बातें कहता हूँ। कर्ण के रथ का चक्का धँस जाने पर उस पर बाण नहीं चलाना धर्म होगा, यह मानना धर्म को बहुत सीमित करके देखना है क्योंकि कहानियों का ही सहारा लिया जाए तो उसी महाभारत में बड़े विस्तार से वर्णित है कि किस प्रकार अभिमन्यु को घेरकर और शस्त्र से

हीन हो जाने पर भी मार डाला गया था और उसमें कर्ण का कितना बड़ा हाथ था। यही नहीं बल्कि जयद्रथ-वध के दिन अर्जुन के घोड़े इतने घायल हो गये थे कि रथ पर चढ़कर युद्ध करना संभव नहीं रह गया था, तो युद्धक्षेत्र में ही कृष्ण जी घोड़ों की परिचर्या में लग गये थे और रथ से उतर कर एक साथ अनेक महारथियों का सामना अकेले अर्जुन ने किया था।¹² इन सबको दरकिनार करके कर्ण-वध को नहीं देखना चाहिए। कर्ण सेनापति था। रथ का चक्का धँस जाने पर कोई महारथी चक्का निकालने लगे, यह किसी प्रकार समझदारी का परिचायक नहीं हो सकता है। जब द्रोणाचार्य सेनापति थे तो भीम ने उनके आठ रथ तोड़ डाले थे। हर बार वे नया रथ लेकर लड़ने आते थे।¹³ वस्तुतः विनाशकाल में बुद्धि सही स्तर पर नहीं ही रहती है। खैर इन बातों को छोड़ा जाए, क्योंकि ऐसी बातें बहुत सारी हो सकती हैं। इनमें से नयी शंकाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। उन पर अलग-अलग चर्चा तो हो सकती है, परंतु एक आलेख में बहुत को समेटना संभव नहीं होता और उचित भी नहीं होता। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि सारी परिभाषाओं के बावजूद किसी विवेचन से यह आशा करना कि उससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह धर्म है और यह धर्म नहीं है, ऐसा संभव नहीं है। यह तो व्यक्ति को विवेकपूर्वक स्थिति-परिस्थिति के अनुसार ही निर्णय लेना होता है। हाँ धर्म की परिभाषा इस निर्णय में सहायक अवश्य होती है कि **यदि उससे सम्यक् मानवता का विकास बाधित नहीं होता तो वह धर्म है और यदि बाधित होता तो वह धर्म नहीं है; और निस्संदेह इसके लिए दृष्टि व्यापक रखनी होगी।** बाँकी जो बातें मुझे कहनी थी वह उपर्युक्त विवेचन में कह चुका हूँ। उसे वहीं देखना चाहिए।

एक बात मैं पुनः स्पष्ट करना चाहता हूँ कि कई लोग अपने विवेचन में ‘धारण करने से धर्म’ का ऐसा अर्थ लेते हैं जो सही नहीं हो पाता है। ऐसे लोग ‘धारणात् धर्म’ से प्रायः यह समझ बैठते हैं कि जीव या प्रजा जिसको धारण करे वह धर्म है। वस्तुतः जीव अथवा प्रजा (प्रजायते इति प्रजा) जिसको धारण करता है उसे धर्म नहीं कहा जा सकता। परिभाषा में यह है कि ‘धर्म प्रजा को धारण करता है’। तात्पर्य स्पष्ट है कि **धर्म से युक्त रहने पर ही अस्तित्व-रक्षा के साथ-साथ सम्यक् विकास संभव है।** प्रजा तो प्रायः ही अधर्म धारण करती है, बल्कि अधिक संख्या अधर्म धारण करने वालों की ही है, तो उसे धर्म कैसे कहा जा सकता है ! इसी प्रकार बहुत से लोग ‘धारण’ का अर्थ भी ‘धारणा’ कर डालते हैं। इस सन्दर्भ में यह

स्पष्टीकरण अत्यंत आवश्यक है कि धारणा भी धारण की जाती है, परंतु जो धारण किया जाए उसे ही धारणा कहते हैं, ऐसा मानना छोटी नहीं, बहुत बड़ी भूल है। 'धारणा' जिस अर्थ में प्रचलित है वह 'मान्यता' है, और मान्यता सबकी अलग-अलग हो सकती है। इसी प्रकार कई व्यक्ति पर्यायवाची शब्दों से प्रकट होने वाले भिन्न गुणात्मक अर्थों के आधार पर कहते हैं कि इंसान का धर्म अलग होता है, आदमी का धर्म अलग होता है, मानव का धर्म अलग होता है। यह शब्दों से खिलवाड़ मात्र है। ऐसी बातें करने से पहले उन्हें स्वयं यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि उनके विचार से धर्म क्या है ? वे धर्म किसे मानते हैं ? पर्यायवाची होते ही हैं अलग-अलग गुणों को व्यक्त करने के लिए। एक नाम प्रायः एक अर्थ को व्यक्त करता है और व्यक्ति हो या वस्तु उनमें बहुत सारे गुण होते हैं, जिनके आधार पर अलग-अलग पर्यायवाची बन जाते हैं। उदाहरण के लिए सूर्य और कमल या ऐसे किसी के भी पर्यायवाची शब्दों को लिया जा सकता है। परंतु, इसका मतलब यह नहीं कि व्यापक रूप से उनके धर्म ही अलग-अलग हो जाते हैं। ऐसे में तो एक आदमी जब अपने लिए 'आदमी' शब्द का प्रयोग करेगा तो उसका धर्म भिन्न हो जाएगा, इंसान शब्द का प्रयोग करने पर भिन्न और मानव शब्द का प्रयोग करने पर भिन्न। या फिर यह तय करना होगा कि कौन आदमी है, कौन इंसान और कौन मानव ! निस्संदेह अर्थों में सूक्ष्म भिन्नता दिखायी जा सकती है, परन्तु वे कुछ गुणों अथवा अवगुणों को व्यक्त करेंगे। धर्म को इस तरह सीमित नहीं किया जा सकता।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का एक निबन्ध है 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है'। इसमें उन्होंने लिखा है : "जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"¹⁴ बिल्कुल यही बातें धर्म के लिए भी पूर्णतः सत्य हैं। समग्र जीवों के प्रति कल्याण-भावना का सामंजस्य होने के बावजूद वस्तुतः मनुष्य ही धर्म का भी लक्ष्य है; और यह कोई आनुमानिक बात हो ऐसा भी नहीं है। स्वयं वेदव्यास इस ज्ञान को अत्यन्त रहस्यपूर्ण-- महत्त्वपूर्ण-- बतलाते हुए घोषणा कर गये हैं कि वस्तुतः मनुष्य से बढ़कर कुछ नहीं है।¹⁵

* सन्दर्भ-सूची :-

1. न्याय एवं वैशेषिक दर्शन, सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, मथुरा, संस्करण-2012, पृष्ठ-13 (वैशेषिक दर्शन के अंतर्गत)।
2. न्याय एवं वैशेषिक दर्शन, सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, पूर्ववत्, पृष्ठ-13.
3. न्याय एवं वैशेषिक दर्शन, सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, पूर्ववत्, पृ.14.
4. महाभारत, कर्णपर्व-69.58 एवं शान्तिपर्व-109.11; गीताप्रेस गोरखपुर, संस्करण- संवत् 2053, चतुर्थ खंड, पृष्ठ-3989 एवं पंचम खंड पृष्ठ-4705.
5. कामायनी (कर्म सर्ग), प्रसाद का सम्पूर्ण काव्य, लोकभारती प्रकाशन, तृतीय (पेपरबैक) संस्करण-2008, पृष्ठ-542.
6. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी, संस्करण-2012, पृष्ठ-489.
7. मीमांसा दर्शनम् (शाबरभाष्योपेतम्), तर्कपादः, व्या. डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण-1991, पृष्ठ-1 (भूमिका के उपरान्त)।
8. मीमांसा दर्शनम् (शाबरभाष्योपेतम्), पूर्ववत्, पृ. 8.
9. श्रीमद्भगवद्गीता-18-66; श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य, बाल गंगाधर तिलक, नारायण पेठ, पूना, 28 वाँ संस्करण-2006, पृष्ठ 580-81.
10. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, द्वादश तप, गाथा-476; गद्य-पद्यानुवाद सहित, सं. पं. महेन्द्रकुमार पाटनी, श्री दिगंबर जैन कुन्दकुन्द परमागम ट्रस्ट, इंदौर (मध्य प्रदेश), सप्तम संस्करण, पृष्ठ-267.

11. महाभारत, शान्तिपर्व- 36.11; गीताप्रेस गोरखपुर, संस्करण- संवत् 2053, पंचम खंड पृष्ठ-4513.

12. महाभारत, द्रोणपर्व-100- 4 से 10; गीताप्रेस गोरखपुर, संस्करण- संवत् 2053, चतुर्थ खंड, पृष्ठ-3360.

13. महाभारत, द्रोणपर्व-128- 18 से 22; गीताप्रेस गोरखपुर, संस्करण- संवत् 2053, चतुर्थ खंड, पृष्ठ-3458.

14. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग-10, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण- 2007, पृष्ठ-24.

15. महाभारत, शान्तिपर्व- 36.11; गीताप्रेस गोरखपुर, संस्करण- संवत् 2053, पंचम खंड पृष्ठ-5218.